जैन शिक्षा : स्वरूप और पद्धति

—डॉ० नरेन्द्र भानावत

विद्वान लेखक, चिन्तक, कवि तथा शोध अधिकारी
(प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय)

शिक्षा का स्वरूप

जिसने राग-द्वेष आदि विकारों पर विजय प्राप्त कर, आत्म-शक्तियों का पूर्ण रूप से विकास कर, परमात्मस्वरूप प्राप्त कर लिया है, वह "जिन" है। "जिन" के उपासक जैन हैं। इस दृष्टि से जैन शब्द किसी कुल, वर्ण या जाति में जन्म लेने वाले व्यक्ति का परिचायक न होकर गुणवाचक शब्द है। आत्मविजय के पथ पर बढ़ने वाला साधक जैन कहाता है। इस परिप्रेक्ष्य में जैन शिक्षा वह शिक्षा है जो आत्म-विजय की ओर बढ़ने का मार्ग सिखाती है।

शिक्षा का सामान्य अर्थ सीखना-सिखाना है। मानव-विकास का मूल साधन शिक्षा है। इसके द्वारा जन्म-जात शक्तियों का विकास कर, एक ओर लौकिक ज्ञान व कला-कौशल में वृद्धि कर आजीविका के साधन जुटाने में दक्षता प्राप्त की जाती है तो दूसरी ओर अपने व्यवहार में परिष्कार और परिवर्तन लाकर पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठते हुए, सभ्य व सुसंस्कृत बन सच्ची मानवता की प्रतिष्ठा की जाती है। इस आधार पर शिक्षा के मुख्यतः दो रूप हमारे समक्ष उभरते हैं :—१. जीवन-निर्वाहकारी शिक्षा और २. जीवन-निर्माणकारी शिक्षा।

जीवननिर्वाह के लिये आवश्यक साधन जुटाना और उनके प्रयोग में प्रावीण्य प्राप्त करना शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य होते हुए भी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य सुषुप्त आत्म-शक्तियों को जागृत कर, आत्मा पर पड़े हुए समस्त विकारों को हटाकर, उसकी अनन्त शक्तियों का पूर्ण विकास करना है। सच्ची शिक्षा व्यक्ति को बन्धनों से मुक्त कर उसमें ऐसी क्षमता और सामर्थ्य विकसित करती है कि वह दूसरों को बन्धन से मुक्त करने में सहायक बन सके। "सा विद्या या विमुक्तये" के मूल में यही उद्देश्य निहित है।

आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने संन्यस्त होने से पूर्व असि, मसि, कृषि की शिक्षा देकर लोगों को आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी बनाया। विविध प्रकार के कला-कौशल को जीवन में प्रतिष्ठापित किया पर उनका अन्तिम लक्ष्य आत्म-संयम के मार्ग पर बढ़कर सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त होना ही रहा। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जीवन अधिक जटिल बनता गया और शिक्षा जीवन-निर्माण के मूल लक्ष्य से हटकर जीवन-निर्वाह के साधन जुटाने तक सीमित रह गई। आत्मानुशासन को सुदृढ़ बनाने की बजाय, बाहरी प्रशासन में सहयोग करने वाली मशीनरी तैयार करना मात्र उसका उद्देश्य रह गया। रचनात्मक शक्तियों के सिंचन एवं संवर्धन के बजाय, सूचनात्मक ज्ञान का संग्रह और संचयन उसका मुख्य लक्ष्य बन गया। वह जीवन जीने की कला से हटकर आजीविका के जंजाल में फँस गई। फलस्वरूप न तो वह बाह्य प्रकृति में सन्तुलन स्थापित करने में समर्थ हो पा रही है और न अन्तःप्रकृति के बिखरे सूत्रों को जोड़ सकी है।

शिक्षा के लिये अंग्रेजी में शब्द है—"Education" यह शब्द लेटिन भाषा के एज्यूकेटम (Educatum) से बना है। एज्यूकेटम में दो शब्द हैं। ए (इ) तथा डूको (Duco) "ए" का अर्थ है अन्दर से और "डूको" का अर्थ है आगे बढ़ना। इस प्रकार एज्यूकेशन का अर्थ हुआ—अन्दर से आगे बढ़ना। अन्दर से आगे बढ़ने की यह कला और शक्ति ही मनुष्य को पशु जगत् से ऊपर उठाती है। मनुष्य के बाहरी शरीर के बढ़ाव की एक सीमा है। उस सीमा के बाद मनुष्य का शारीरिक विकास रुक जाता है। पर मनुष्य के अन्दर से आगे बढ़ने की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। इन सम्भावनाओं को पूर्ण करने का सामर्थ्य शिक्षा के द्वारा अर्जित किया जाता है। पर आज शिक्षा के बहिर्मुखी हो जाने से अन्तर्मुखी विकास की प्रक्रिया रुक-सी गई है। जैन शिक्षा मनुष्य की अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बल के विकास की सम्भावनाओं को पूर्णता प्रदान करने पर जोर देती है।

ज्ञानसम्पन्न होना मानव जीवन की सार्थकता की पहली शर्त है। "उत्तराध्ययन सूत्र" के २९वें अध्ययन "सम्यक्त्व पराक्रम" में इन्द्रभूति गौतम स्वामी भगवान महावीर से पूछते हैं—भगवन्! ज्ञान सम्पन्न होने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

नाण सम्पन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयई?

उत्तर में भगवान् महावीर फरमाते हैं—ज्ञान-सम्पन्न होने से जीवात्मा सब पदार्थों के यथार्थ भाव को जान सकती है और चतुर्गति रूप संसार-अटवी में भटकती नहीं :—

नाणसम्पन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगम जणयइ।
नाण संपन्ने ण जीवे चउरन्ते संसार कान्तारे न विणस्सइ॥

जैसे सूत्र (सूत-डोरा) सहित सूई गुम नहीं होती, उसी प्रकार सूत्र (आगम-ज्ञान—आत्म-ज्ञान) से युक्त ज्ञानी पुरुष संसार में भटकता नहीं।

जहा सुई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सई॥

—उत्तराध्ययन २९/५९

"स्थानांग" सूत्र के पाँचवें स्थान में पाँच कारणों से श्रुत ज्ञान अर्थात् शास्त्र की शिक्षा आवश्यक बताई है—पंचहि ठाणेहिं सुत्तं सिक्खेज्जा तं जहा—नाणट्ठयाए, दंसणट्ठयाए, चारित्तट्ठयाए, पुग्गह विमोयणट्ठयाए, अहत्थे वा भावे जाणिस्सामी त्ति कट्टु। (४६८)

अर्थात् ज्ञान वृद्धि के लिये, दर्शन शुद्धि के लिये और पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये संक्षेप में ज्ञान-दर्शन और चारित्र के मार्ग पर बढ़ते हुए एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करना शिक्षा का लक्ष्य है जो राग-द्वेष से मुक्त हो। "दशवैकालिक सूत्र" के ९वें अध्ययन में शास्त्रों के स्वाध्याय का लाभ बताते हुए कहा गया है कि शास्त्राध्ययन से सत्य का साक्षात्कार होता है, चंचल चित्त एकाग्र होता है, मन स्थिर होता है और स्वयं स्थिर होकर दूसरों के अस्थिर मन को स्थिर बनाने की योग्यता अर्जित होती है।

शिक्षा की पद्धति

जैन शास्त्रों में शिक्षा के मुख्यतः दो प्रकार बताये गये हैं—१. ग्रहण शिक्षा २. आसेवना शिक्षा। ग्रहण शिक्षा में ज्ञान-संग्रह की प्रमुखता रहती है तो आसेवना शिक्षा में ग्रहण किये हुए ज्ञान को आचरण में लाने पर बल दिया जाता है। संक्षेप में सम्यक् शिक्षा विचार और आचार का समन्वय है। इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं की उपलब्धि के लिए "उत्तराध्ययन सूत्र" के ११वें अध्ययन में स्पष्ट कहा है—

वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे, पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई॥ १४॥

अर्थात् जो सदा गुरुकुल में (गुरुजनों की सेवा में) रहता है, जो योग और उपधान (शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विशेष तप) में निरत है, जो प्रियकर है और प्रियभाषी है, वह शिक्षा प्राप्त करने के योग्य होता है।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि शिक्षा के लिये गुरुसेवा में रहना आवश्यक माना गया है। गुरु ही शिष्य में उसकी सुषुप्त शक्तियों को विकसित करने की प्रेरणा फूंकता है। गुरु के चरित्र का शिक्षार्थी पर सीधा प्रभाव पड़ता है। गुरु अध्ययन की कला सिखाकर उसे आत्मधर्म में स्थित करता है। ज्ञान निःशंक बनकर, चिन्तन-मनन की प्रक्रिया द्वारा अनुभवन में आए, इसके लिए स्वाध्याय पर बल दिया गया है। आज तो शिक्षा पद्धति में अध्ययन-कौशल का इतना विकास हो गया है कि उससे स्वाध्याय-कला का निर्वासन सा हो गया है। बाह्य इन्द्रियों की क्षमता बढ़ने से रंग, गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श आदि की पहचान और प्रतीति में विकास हुआ है, विश्व की घटनाओं में रुचि बढ़ी है और नित्य नवीन तथ्य जानने की जिज्ञासा जगी है पर इसके समानान्तर आत्म-चैतन्य को जानने की जिज्ञासा और उसकी शक्ति को प्रकट करने की क्षमता नहीं बढ़ी है। फलस्वरूप ज्ञान की आराधना आत्मा के लिये हितकारक, विश्व के लिये कल्याणकारी और वृत्ति-परिष्कारक नहीं बन पा रही है। ज्ञान के मंथन से अमृत के बजाय विष अधिक निकल रहा है। और उस विष को पचाने के लिये जिस शिव-शक्ति का उदय होना चाहिये, वह नहीं हो पा रही है।

इस अमृतमयी शिव-शक्ति का उदय स्वाध्याय के माध्यम से ही हो सकता है। स्वाध्याय के तीन अर्थ हैं—स्वस्य अध्ययनं—१. अपने आप का अध्ययन, २. स्वेन अध्ययनं—अपने द्वारा अपना अध्ययन, ३. सु+आङ्+अध्याय अर्थात् सद्ज्ञान का मर्यादापूर्वक अध्ययन।

स्वाध्याय प्रक्रिया के पाँच स्तर-सोपान हैं। स्थानांग सूत्र के ५वें स्थान में कहा है—

पंचविहे सज्झाए पण्णत्ते तं जहा—वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा।४६५।

अर्थात् वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

सर्वप्रथम "वाचना" द्वारा अर्थात् पढ़कर सिद्धान्त के सत्य को जाना जाता है। फिर उसके

सम्बन्ध में रही हुई शंकाओं के लिए प्रश्न-प्रतिप्रश्न पूछकर ग्रहण किये हुए ज्ञान को शंकारहित बनाया जाता है। "वाचना" रीडिंग के समकक्ष है तो पृच्छना डिसकशन रूप है। 'परिवर्तना' में ग्रहण किये हुए ज्ञान को परिपुष्ट करने के लिये बार-बार उसकी आवृत्ति की जाती है, मनन किया जाता है, ज्ञान का परिग्रहण (रिकेपिच्यूलेशन) किया जाता है। 'अनुप्रेक्षा' में अनुभव के स्तर पर सिद्धान्त के सत्य को जाना जाता है। इसमें ग्रहण किए हुए ज्ञान का भावन अर्थात् पाचन होता है। यह रेट्रोस्पेक्शन के निकट है। 'धर्मकथा' में ज्ञान रस रूप में परिणत हो जाता है, विचार आचार में ढल जाता है। धर्म का अर्थ ही है—धारण करना (रिटेन्शन) इस प्रक्रिया में ज्ञान अलग से जानने की वस्तु नहीं रहता। वह धारणा का अंग बनकर चारित्र का रूप ले लेता है। इसी अर्थ में शिक्षा को चरित्र कहा है।

आज की शिक्षा पद्धति में स्वाध्याय का यह क्रम मात्र यांत्रिक बनकर रह गया है। वह भीतर की परतों को जोड़ नहीं पाता। अनुप्रेक्षा और धारणा का तत्व वर्तमान शिक्षा पद्धति से ओझल हो गया है। इसे प्रतिष्ठापित करने के लिये शिक्षा के साथ दीक्षा आवश्यक है। दीक्षान्त समारोह आयोजित करने के पीछे शायद यही लक्ष्य रहा है। पर अब तो दीक्षान्त समारोह भी समाप्तप्राय हैं। दीक्षान्त का अर्थ ही है—शिक्षा के अन्त में दीक्षा। दीक्षा का अर्थ है—दिशा का ज्ञान। और उस ज्ञान को प्राप्त कर उस दिशा में चलने की दक्षता का अर्जन। पर आज तो दिशा ही उलट गई है। यही कारण है कि ज्ञान के नाम पर साक्षरता प्रधान हो गई है। सरसता छूट गई है। केवल आँख से बाँचना, न मन की अनुप्रेक्षा है और न आतमा की धर्मकथा है। इसीलिये सारी विद्या सरस्वती न बनकर राक्षसी बन गई है। कहा है—

सरसो विपरीतश्चेत्, सरसत्वं न मुञ्चति।
साक्षरा विपरीताश्चेत्, राक्षसा एव निश्चिताः॥

सरस्वती के "सरस" में व्यक्ति के मन को जोड़ने का अनूठा सामर्थ्य रहता है। उसमें कथनी और करनी की एकता रहती है। उसको उल्टा-सीधा कैसे ही पढ़ो, 'सरस' सरस ही बना रहता है। पर साक्षरा ज्ञान मानव मन को जोड़ता नहीं तोड़ता है, वह कथनी-करनी में भेद स्थापित करता है। इसीलिये "साक्षरा" उलटने पर 'राक्षसा' बन जाता है।

स्वाध्याय "स्व" में प्रतिष्ठित होने की प्रक्रिया है। इसके लिये आवश्यक है कि स्वध्यायी पाँच अणुव्रतों—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करे। इन अणुव्रतों की पुष्टि के लिये ३ गुणव्रतों—दिशाव्रत, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत और अनर्थदण्ड विरमण व्रत (निष्प्रयोजन प्रवृत्ति का त्याग) की व्यवस्था की गई है और इन गुणव्रतों के पोषण के लिये चार शिक्षाव्रतों का विधान किया गया है। ये शिक्षाव्रत हैं—सामायिक, देशावकासिक, पौषधोपवास एवं अतिथि संविभाग। चारों शिक्षाव्रत भोगवृत्ति पर नियन्त्रण स्थापित करते हुए आत्मविजय की प्रेरणा देते हैं। सामायिक व्रत अर्थात् पक्षपात रहित यथार्थ स्वरूप में रमण, सुख-दुख, लाभ-हानि, यश-अपयश, जन्म-मरण में समताभाव, भोग के प्रति अनासक्ति। देशावकासिक व्रत अर्थात् व्यापक दिशाओं की भोगवृत्ति को सीमित कर उसे देश-काल की मर्यादा में बाँधने का नियम, कामनाओं पर नियन्त्रण। पौषधोपवास व्रत अर्थात् भोगवृत्ति से हटकर आत्मवृत्ति के निकट रहना, आत्म गुणों का पोषण करना। अतिथि संविभाग व्रत अर्थात् दूसरों के लिए अपने हिस्से की भोगसामग्री का त्याग करना, सेवा की ओर अग्रसर होना, सबको आत्मतुल्य समझना, उनके सुख-दुखों में भागीदार होना। इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहना इस बात का संकेत है कि शिक्षा का मूल लक्ष्य भोग से त्याग की ओर बढ़ते हुए अपने स्व को सर्व में विलीन कर देना है।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दैनिक कार्यक्रमों में छः आवश्यक कार्य सम्पन्न करने पर बल दिया गया है। इन्हें आवश्यक कहा गया है। ये हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। सामायिक का मुख्य लक्ष्य आत्म-चिन्तन, आत्म-निरीक्षण है। बिना अहं का विसर्जन किए आत्म-चिन्तन की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। अतः अहं को गालने के लिये, जो आत्मविजेता बन चुके हैं ऐसे २४ तीर्थंकरों के गुण-कीर्तन स्तवन और पंच परमेष्ठी अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की वन्दना करने का विधान किया गया है। "प्रतिक्रमण" में असावधानीवश हुए दोषों का प्रायश्चित्त कर उनसे बचने का संकल्प किया जाता है। "कायोत्सर्ग" में देहातीत होने का अभ्यास किया जाता है। और "प्रत्याख्यान" में सम्पूर्ण दोषों के परित्याग का संकल्प लिया जाता है।

श्रमणों को "उत्तराध्ययन" सूत्र के २६वें अध्ययन की १८वीं गाथा में निर्देश दिया गया है कि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान अर्थात् अर्थ का चिन्तन, तीसरे में भिक्षाचरण और चौथे में पुनः स्वाध्याय किया जाय—

पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खाचरियं पुणो, चउत्थी सज्झायं॥

इसी प्रकार रात्रि के प्रथम पहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा और चौथे में पुनः स्वाध्याय करने का विधान है। इससे स्पष्ट है कि दिन-रात के आठ पहरों में चार पहर केवल स्वाध्याय के लिये नियत किये गये हैं।

विधिपूर्वक श्रुत की आराधना करने के लिये आठ आचार बताये गये हैं—

१. जिस शास्त्र का जो काल हो, उसको उसी समय पढ़ना कालाचार है।

२. विनयपूर्वक गुरु की वन्दना कर पढ़ना विनयाचार है।

३. शास्त्र एवं ज्ञानदाता के प्रति बहुमान होना बहुमान आचार है।

४. तप, आयम्बिल आदि करके पढ़ना उपधान आचार है।

५. पढ़ाने वाले गुरु के नाम को नहीं छिपाना अनिह्नवाचार है।

६. शब्दों ह्रस्व-दीर्घ का शुद्ध उच्चारण करना व्यंजनाचार है।

७. सम्यक् अर्थ की विचारणा अर्थाचार है।

८. सूत्र और अर्थ दोनों को शुद्ध पढ़ना और समझना तदुभयाचार है।

शिक्षक का स्वरूप

शिक्षक को गुरु कहा गया है। आचार्य और उपाध्याय प्रमुख गुरु हैं। आचार्य का मुख्य कार्य वाचना देना और आचार का पालन करना-करवाना है। उपाध्याय का मुख्य कार्य ज्ञानदान देना है। जो अध्ययन के स्व के निकट ले जाये, वह उपाध्याय है। सामान्य लौकिक शिक्षा पद्धति में भी आचार्य और उपाध्याय पद समादृत हैं। जैन शास्त्रकारों ने आचार्य और उपाध्याय को विशेष पूजनीय स्थान देकर उन्हें पंच परमेष्ठी महामन्त्र में प्रतिष्ठित किया है। आचार्य के लिये "आवश्यक सूत्र" में कहा गया है कि वे पाँच इन्द्रियों के विषय को रोकने वाले, नव वाड़ सहित ब्रह्मचर्य के धारक, क्रोध, मान, माया, लोभ, कषायों के निवारक, पंच महाव्रतों से युक्त, पंचविध आचार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारि-

त्राचार, तपाचार, वीर्याचार का पालन करने में समर्थ, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों से युक्त होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने गुरु के लक्षण बताते हुए कहा है—

महाव्रताधरा धीरा, भैक्ष्यमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था, धर्मोपदेशका गुरवो मताः।

—योगशास्त्र २/८

अर्थात् महाव्रतधारी, धैर्यवान, शुद्ध भिक्षामात्र से जीवन-निर्वाह करने वाले, समताभाव में स्थिर रहने वाले, धर्मोपदेशक महात्मा गुरु माने गये हैं।

शिक्षार्थी की पात्रता

जीवन-निर्माणकारी शिक्षा में आगे बढ़ने के लिये कौन योग्य-अयोग्य है, इसकी शास्त्रों में बड़ी चर्चा की गई है। भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के ११वें अध्ययन में शिक्षार्थी की पात्रता की चर्चा करते हुए कहा है :—

अह अट्ठहि ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सया दंते, ण य मम्ममुदाहरे ॥४॥
णासीले ण विसीले, णं सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥५॥

अर्थात् इन आठ कारणों से व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करने के योग्य कहलाता है। १. जो अधिक हँसने वाला न हो, २. सदा इन्द्रिय दमन करता हो, ३. किसी का मर्म प्रकाशन न करता हो, ४. अखण्डित शील वाला हो, ५. अति लोलुप न हो, ६. श्रेष्ठ आचार वाला हो, ७. क्रोधी न हो और ८. सत्य में रत हो।

उत्तराध्ययन सूत्र के ११वें अध्ययन की १२वीं गाथा में कहा गया है कि सुशिक्षित व्यक्ति स्खलना होने पर भी किसी पर दोषारोपण नहीं करता और न कभी मित्रों पर क्रोध करता है। यहाँ तक कि अप्रिय के लिए भी हितकारी बात करता है।

शिक्षार्थी का विनीत और अनुशासनबद्ध होना आवश्यक माना गया है। "धम्मस्स विणओ मूलं" (दशवैकालिक ९/२/२) अर्थात् विनय को धर्म का मूल कहा गया है। 'दशवैकालिक सूत्र' के ९वें अध्ययन में कहा है—

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥

अर्थात् अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और सुविनीत को संपत्ति। जिसने ये दोनों बातें जान ली हैं, वहीं शिक्षा प्राप्त कर सकता है। इसी अध्याय में कहा गया है कि जो आचार्य और उपाध्याय की सेवा-शुश्रूषा तथा उनकी आज्ञा का पालन करता है, उसकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है जैसे—जल से सींचा हुआ वृक्ष—

जे आयरिय उवज्झायाणं, सुस्सूसावयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥ —९/१२

गुरु की आज्ञा न मानने वाला, गुरु के समीप रहकर भी उनकी शुश्रूषा नहीं करने वाला, उनके प्रतिकूल कार्य करने वाला तथा तत्त्वज्ञानरहित अविवेकी अविनीत कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र १-३॥

जो विद्यावान होते भी अभिमानी है, अजितेन्द्रिय है, बार-बार असम्बद्ध भाषण करता है वह अबहुश्रुत है। उत्तराध्ययन ११/२।

ऐसे शिक्षार्थी को शिक्षणशाला से बहिर्गमित करने का विधान है। "उत्तराध्ययन सूत्र" में ऐसे शिक्षार्थी की भर्त्सना करते हुए उसे सड़े कानों वाली कुतिया से उपमित किया गया है। और कहा है कि —जैसे सड़े कानों वाली कुतिया सब जगह से निकाली जाती है, उसी तरह दुष्ट स्वभाव वाला, गुरुजनों के विरुद्ध आचरण करने वाला वाचाल व्यक्ति संघ अथवा समाज से निकाला जाता है। ऐसा समझ कर अपना हित चाहने वाला अपनी आत्मा को विनय में स्थापित करे—

विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो। —उत्तराध्ययन सूत्र १/६

शास्त्रों में विनय का अर्थ सामान्य शिष्टाचार या नम्रता तक ही सीमित नहीं है अपितु वह भीतरी अनुशासन, आत्मनिग्रह और संयम के रूप में प्रतिपादित है। जिसका मन अस्थिर और चंचल है वह विनयभाव को नहीं धारण कर सकता है। मन की अस्थिरता और चंचलता, भोगवृत्ति और आसक्ति का परिणाम है। ऐसा व्यक्ति न अपने शासन में रहता है और न किसी अन्य के। "आचारांग सूत्र" में ऐसे व्यक्ति को अनेक चित्त वाला बताया है और कहा है कि वह अपनी अपरिमित इच्छाओं की पूर्ति के लिये दूसरे प्राणियों का वध करता है। उनको शारीरिक और मानसिक कष्ट पहुँचाता है। पदार्थों का संचय करता है और जनपद के वध के लिए सक्रिय बनता है। निश्चय ही ऐसी मानसिकता में जीने वाला सच्ची शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। "स्थानांग सूत्र" के चौथे स्थान में कहा है—

चत्तारि अवायणिज्जा पण्णत्ता तं जहा—
अविणीए, विगइपडिबद्धे अणुवसमिए णउडेमाइ ।।३२६।।

अर्थात् चार व्यक्ति शिक्षा ग्रहण के अयोग्य कहे गये हैं—अविनीत, स्वादेन्द्रिय में गृद्ध, अनुपशांत अर्थात् अति क्रोधी और कपटी। सच्ची शिक्षाप्राप्ति ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप में परस्पर जुड़ाव है। यह जुड़ाव मात्र अध्ययन से संभव नहीं पर इसके लिये स्वाध्याय की प्रक्रिया से गुजरना होगा। भगवान महावीर ने अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य को शिक्षा-प्राप्ति में बाधक माना है—

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं, सिक्खा न लब्भई।
थम्मा कोहा, पमाएण, रोगेणालस्सएण य ।।

—उत्तरा० ११/३

शिक्षार्थी के लिये अप्रमत्तता और जागरूकता अनिवार्य है। इसके अभाव में व्यक्ति आंतरिकता से जुड़ नहीं पाता और विवाद व मूर्च्छा में ग्रस्त बना रहता है। आत्म-जागरणा द्वारा ही इस मूर्च्छा को तोड़ा जा सकता है। भगवान महावीर ने जयणा अर्थात् विवेक को इसका साधन बताया है। संक्षेप में जैन शिक्षा का अर्थ है—अपने आंतरिक वीरत्व से जुड़ना, चेतना के स्तर को ऊर्ध्वमुखी बनाना और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना।

पता—सी-२३५ ए, तिलक नगर, जयपुर ४